दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष सातवाँ
अंक ग्यारहवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

फाल्गुन
2478

अहो, रत्नत्रय-महिमा

'यह रत्नत्रय ही सिद्धान्त का सर्वस्व है तथा यही मुक्ति का कारण है; और जीवों का हित यही है और प्रधान पद यही है।

जो संयमी मुनि पूर्वकाल में मोक्ष गये हैं, वर्तमान में जा रहे हैं और भविष्य में जायेंगे वे वास्तव में इस अखंडित रत्नत्रय की सम्यक् प्रकार से आराधना करके ही गये हैं, जो रहे हैं और जायेंगे।

इस सम्यक् रत्नत्रय को प्राप्त किये बिना करोड़ों-अरबों जन्म धारण करने पर भी कोई जीव मोक्षलक्ष्मी के मुखकमल के साक्षात् दर्शन नहीं कर सकता।'

— श्री शुभचन्द्राचार्यदेव

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

83

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री श्राविका-ब्रह्मचर्याश्रमना उद्घाटन प्रसंगे पूज्य गुरुदेवश्री
आश्रममां प्रवचन कर्युं ते प्रसंगनुं दृश्य; प्रवचन पछी श्रीमान्
वछराजजी शेठ ऊभा थईने पूज्य गुरुदेवश्रीनो उपकार मानी रह्या छे।

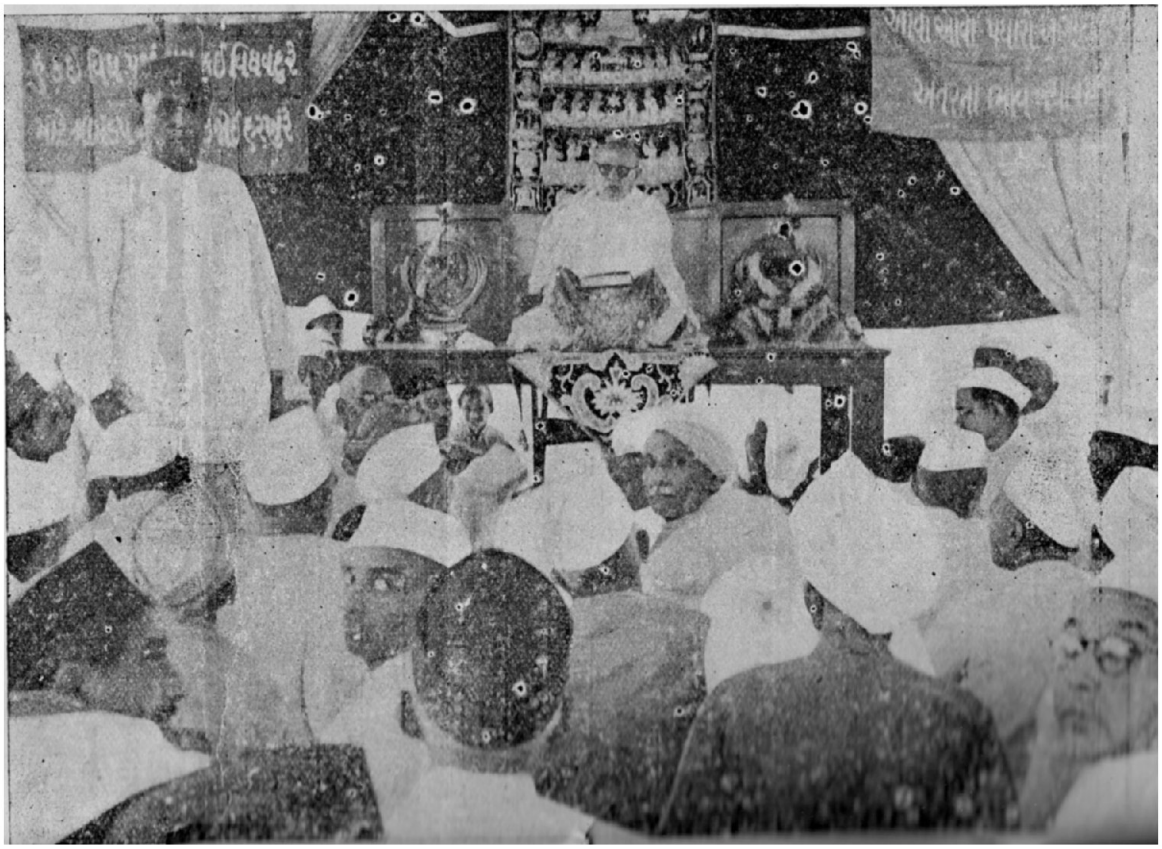

आत्मधर्म

फाल्गुन 2478 ★ वर्ष सातवाँ ★ अंक ग्यारहवाँ

आत्मार्थी का पहला कर्त्तव्य - 8

ज्ञायक स्वभावी शुद्ध जीव का अनुभव ही नवतत्त्व के ज्ञान का प्रयोजन है और

वही सम्यग्दर्शन है

(वीर सं. 2476 भाद्रपद शुक्ला 5 शनिवार)

जीव धर्म करना चाहते हैं, किन्तु आत्मा का धर्म कैसे हो, यह बात अनंतकाल से यथार्थरूप से समझने में नहीं आयी। यदि एक क्षणमात्र भी आत्मा को समझे तो यह परिभ्रमण न हो। परिभ्रमण के प्रबल कारणरूप आत्मभ्रान्ति है, उस आत्मभ्रान्ति को छेदने का क्या उपाय है, वह जीव ने कभी नहीं जाना। आत्मभ्रान्ति को मिथ्यात्व कहा जाता है, वह मिथ्यात्व कैसे दूर हो अर्थात् सम्यक्त्व किस प्रकार हो, यह बात कभी नहीं जानी। नवतत्त्वों को सम्यक् अन्तर भान से जानने पर आत्मभ्रान्ति दूर होकर सम्यग्दर्शन होता है और जीव को धर्म का प्रारम्भ होता है - ऐसा यहाँ श्री आचार्यदेव बतलाते हैं।

आत्मा की दरकार करके धर्म की यह विधि अनंतकाल से कभी नहीं जानी है, इसलिए कठिन मालूम होती है, तथापि ध्यान रखकर समझना चाहिए, क्योंकि इसके अतिरिक्त धर्म की दूसरी कोई रीति नहीं है। रुचिपूर्वक समझना चाहे तो यह रीत बिलकुल सरल है। आत्मा में त्रिकाल स्वभाव और वर्तमान अवस्था - ऐसे दो पक्ष हैं। त्रिकाल स्वभाव एकरूप है और अवस्था

में अनेक प्रकार हैं, उसमें त्रिकाली एकरूप स्वभाव की दृष्टि छोड़कर बाह्य स्थूल दृष्टि से देखने पर नवतत्त्वों के विकल्प विद्यमान हैं, 'मैं जीव हूँ, शरीरादि अजीव हैं, दयादि पुण्य हैं, हिंसादि पाप हैं, पुण्य-पाप दोनों आस्रव हैं, उस आस्रव को रोकना सो संवर है, कर्म खिरें वह निर्जरा है, पुण्य-पाप भाव बंधन है और पूर्ण शुद्धता होने पर कर्मों का बिलकुल नाश हो जाना वह मोक्ष है।' इसप्रकार नवतत्त्वों का रागमिश्रित विचार द्वारा निर्णय करने से वे नवतत्त्व भूतार्थ हैं। किन्तु एकरूप ज्ञायक आत्मा का अनुभव करने के लिए तो यह विकल्परूप नवों तत्त्व छोड़ने योग्य हैं। मात्र नवतत्त्वों की रागमिश्रित श्रद्धा भी अभी मिथ्यात्व है।

प्रश्न - इन नवतत्त्वों में ज्ञेय, हेय और उपादेय कौन-कौन से तत्त्व हैं ?

उत्तर - जानने योग्य तो सब हैं, इसलिए नवों तत्त्व ज्ञेय हैं। यहाँ नवों तत्त्व विकल्परूप लिये हैं, इसलिए वे नवों तत्त्व हेय हैं। नवतत्त्वों के विकल्प रहित एक शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। पर्याय अपेक्षा से कथन हो, वहाँ पुण्य-पाप-आस्रव-बंध को हेय और संवर-निर्जरा-मोक्ष को कथंचित् उपादेय कहा जाता है, किन्तु द्रव्यदृष्टि में तो नवों तत्त्व हेय हैं, द्रव्यदृष्टि में नवतत्त्व भेद नहीं हैं, मात्र शुद्ध आत्मा ही है। शुद्ध आत्मा ही भूतार्थ है, उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि होत हैं, नवों तत्त्व अभूतार्थ हैं, उनके आश्रय से सम्यग्दर्शनादि नहीं होते, किन्तु राग ही होता है, इसलिए यहाँ नव तत्त्वों को हेय कहा गया है। नवतत्त्वों का रागमिश्रित अनुभव है, वह आत्मधर्म नहीं है, अन्तर्मुख स्वभावोन्मुख होने से परिपूर्ण एक आत्मा ही प्रतीति में आता है और आत्मभंग न हो, वही सम्यग्दर्शन-धर्म है।

नवतत्त्वों को यथावत् माने, 'सिद्ध समान मेरा स्वभाव है' - ऐसा माने तो विकल्प से जीवतत्त्व को माना कहा जाये। शरीर का कार्य शरीर से होता है, आत्मा उसे नहीं करता - ऐसा माने तो रागमिश्रित विकल्प से अजीव को माना कहा जाये। पुण्य क्षणिक विकार है, वह धर्म नहीं है, जीव का धर्म जीव के आश्रय से होता है, अजीव की क्रिया से जीव का धर्म नहीं होता, इसप्रकार जीव-अजीव की भिन्नता जानकर नवों तत्त्वों को बराबर जानना, वह तो अभी दर्शन शुद्धि के पूर्व की भूमिका है। किन्तु यह नवतत्त्व के विकल्पमिश्रित विचार अभूतार्थ हैं। साधक को वह विकल्प उठता है, किन्तु उसे उसकी मुख्यता नहीं है, मुख्यता तो शुद्ध चैतन्य की ही है, उसी के आधार से साधकदशा है। अनंतगुणों का पिण्ड जो आत्मा है, उसकी दृष्टि में नवतत्त्व के विकल्पों का अभाव

है, इसलिए धर्मात्मा की दृष्टि में एकरूप चैतन्यतत्त्व की ही अस्ति है, ऐसी दृष्टि ही दर्शनविशुद्धि है और वही प्रथम धर्म है।

प्रथम तो बाह्य स्थूल दृष्टि से देखने पर नवतत्त्वों को भूतार्थ कहा और अन्तरस्वभाव के समीप जाकर शुद्ध जीव का अनुभव करने में उन नवतत्त्वों को अभूतार्थ कहा – ऐसा अनुभव करना, सो दर्शनविशुद्धि है। अब यह बात तीसरी शैली में कहते हैं।

'इसप्रकार अंतरदृष्टि से देखें तो ज्ञायकभाव जीव है और जीव के विकार का हेतु अजीव है। पुनश्च, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष – यह जिनके लक्षण हैं, ऐसे तो केवल जीव के विकार हैं और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष – विकारहेतु मात्र अजीव हैं। ऐसे वह नवतत्त्व, जीवद्रव्य के स्वभाव को छोड़कर, स्वयं और पर जिनके कारण हैं, ऐसी एक द्रव्य की पर्यायोंरूप से अनुभव करने से भूतार्थ हैं और सर्वकाल अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने से वे अभूतार्थ हैं–असत्यार्थ हैं। इसलिए इन नवों तत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है।

पहले अज्ञानी के नवतत्त्वों की बात थी, उसमें जीव और पुद्गल के संयोग से देखने का कथन था, यहाँ ज्ञानी के नवतत्त्वों के विकल्प की बात है, उसमें जीव और अजीव यह दोनों स्वतंत्र द्रव्य हैं तथा जीव और अजीव दोनों में पृथक्–पृथक् सातत्त्व हैं – वह बात ली है। अन्तरस्वभाव की दृष्टि से देखें तो एक ज्ञायकभाव ही भूतार्थ है और नवतत्त्व अभूतार्थ हैं। यह समझे बिना व्रत–पूजादि के जो भाव हैं, वे अरण्य–रोदन जैसे हैं, उनसे जीव को किंचित् धर्म नहीं होता।

अभेदरूप ज्ञायक आत्मा वह अंतरतत्त्व है, उसे अंतर में न देखकर वर्तमान जितनी क्षणिक अवस्था का ही विचार करना, उसे बाह्यदृष्टि कहा जाता है। जिसप्रकार सम्पूर्ण हीरे के अंतरसत्त्व को देखना, वह अंतरदृष्टि है और उसके क्षणिक दाग को ही देखते रहना, सो बाह्यदृष्टि है। उसीप्रकार आत्मा में त्रिकाली ज्ञायक अंतरस्वभाव को देखना, वह अंतरदृष्टि है और क्षणिक विकारी प्रगट पर्याय को ही लक्ष में लेकर उसके विचार में रुकना, सो बाह्यदृष्टि है। उस बाह्यदृष्टि में भेदरूप नवतत्त्व भूतार्थ है, किन्तु अंतरस्वभाव की दृष्टि में वे नवतत्त्व अभूतार्थ हैं और एक ज्ञायक भगवान ही भूतार्थ है। जीव और अजीव के संबंध से विचार करने से नवतत्त्वों के विकल्प उठते हैं, वे पर्याय में हैं अवश्य, किन्तु अभेद चैतन्यस्वभावोन्मुख होकर अनुभव करने से वे सब अभूतार्थ

हैं, मात्र चैतन्य को लक्ष में लेकर अनुभव करने से नवतत्त्व के विकल्प नहीं उठते। ऐसा अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन धर्म है। किन्तु उससे पूर्व विकल्पदशा में, जो नवतत्त्व का वर्णन किया है, उसे बराबर समझना चाहिए।

अभी तो जो जीव निवृत्ति लेकर सत्समागम से यथार्थ बात का श्रवण भी न करे और वह जीव, तत्त्व की धारणा करके अन्तर में निर्णय कहाँ से करेगा ? और तत्त्व के निर्णय के बिना नि:संदेह होकर अन्तर में अनुभव किसप्रकार करेगा ? ऐसा अनुभव के बिना धर्म नहीं होता और संसार-परिभ्रमण भी दूर नहीं होता।

सम्यग्दर्शन के विषय में तो चैतन्य की एकता ही है, उसमें नवतत्त्व के भंग-भेद नहीं हैं। प्रथम बाह्यदृष्टि से नवतत्त्वें को बतलाकर अंतर में ले गये, अब अंतरदृष्टि से बात करते हैं। अंतरदृष्टि से देखने पर आत्मा तो शुद्ध ज्ञायक चैतन्य है और उसकी अवस्था में जो क्षणिक जीव-अजीवादि तत्त्व के विकल्प हैं, वह विकार है। ज्ञायक चैतन्यस्वभाव स्वयं उस विकार का हेतु नहीं है, किन्तु उस विकार का हेतु अजीव है। पर्याय में, ज्ञायकपना छूटकर जो विकार होते हैं, वे जीव के विकार हैं और उनका निमित्त अजीव है। जीव में अपनी अवस्था की योग्यता से पुण्य-पाप आदि सातत्त्व होते हैं और उनमें निमित्तरूप अजीव है, उस अजीव की अवस्था में भी पुण्य-पाप आदि सात प्रकार पड़ते हैं, वे दोनों (जीव-अजीव की अवस्थाएँ) भिन्न हैं। मात्र ज्ञायक में सात तत्त्व नहीं है, इसलिए उस स्वभाव के लक्ष से सात तत्त्वों के विकल्प नहीं होते, किन्तु स्वभाव का लक्ष छोड़कर पर्याय के लक्ष से भेद के विकल्प होते हैं, उसका निमित्त अजीव है, जीवद्रव्य कहीं उसका निमित्त नहीं है।

देखो, इसमें आत्मा की पहिचान करना कहा जा रहा है, वही धर्म की रीति है। जैनधर्म के सच्चे पर्यूषण आज से प्रारम्भ हो रहे हैं। आज से दशलक्षणधर्म के दिवस प्रारम्भ होते हैं, उनमें आज पहला उत्तम क्षमाधर्म का दिन है। अनादि से सनातन जैनमार्ग में आज धर्म के मंगल दिवस प्रारम्भ होते हैं, किन्तु वास्तव में अपने आत्मा में धर्म का प्रारम्भ कब होता है ? जैसा आत्मस्वभाव सर्वज्ञ भगवान ने कहा है, वैसे अपने आत्मस्वभाव को जाने तो अपने से धर्म का प्रारम्भ हो। यह प्रथम सम्यग्दर्शन की बात चल रही है, आत्मस्वभाव को पहिचानने की बात चल रही है।

आत्मा को समझने में अंतर की धर्मक्रिया आती है। जड़ की क्रिया मुझमें होती है और

शरीर की क्रिया से धर्म होता है – ऐसा मानना, वह तो अधर्म की क्रिया है, उसे तो नवतत्त्व की भी खबर नहीं है। आत्मा में सम्यग्दर्शनादि निर्मल भाव प्रगट हो, वही आत्मा की क्रिया है, वही धर्म है। ऐसी धर्मक्रिया की यह बात चलती है। आत्मा तो ज्ञायक चैतन्यज्योति है, आनंदकंद निर्विकारी मूर्ति है, ऐसा तो ज्ञायकभाव है, वही जीव है, उसमें नवतत्त्व के भेद नहीं हैं। किन्तु उसकी अवस्था में दूसरी अजीव वस्तु के आश्रय से सात भंग पड़ते हैं, उसका निमित्त अजीव है। आत्मा ज्ञायक चैतन्य है, वह तो शुद्ध जीव है, जब उस ज्ञायक चैतन्यस्वभाव का अनुभव न रहे, तब उसकी अवस्था में अजीव के निमित्त से सात भंग पड़ते हैं, और निमित्तरूप अजीव में भी सात भंग पड़ते हैं। यहाँ जीव और अजीव को पृथक् रखकर उन दोनों में सात-सात भंग बतलाते हैं। एक ओर शुद्ध जीव को अलग रखा, सामने अजीव सिद्ध किया, जीव को, स्वभाव से ज्ञायक सिद्ध किया और अजीव को विकार के हेतुरूप बतलाया। मात्र जीव स्वभाव के आश्रय से वीतरागभाव की उत्पत्ति होती है और सातत्त्व के आश्रय से तो रागरूप विकल्प की उत्पत्ति होती है।

ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि को चूककर सात तत्त्वों के भेद पड़ें, वे सब तो मात्र जीव के ही विकार हैं। मोक्षतत्त्व को भी यहाँ जीव का विकार कहा है, क्योंकि यहाँ सातों तत्त्व विकल्परूप लिये हैं। पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष – ऐसे सातों तत्त्वों के विकल्प शुद्ध जीव के लक्ष से उत्पन्न नहीं होते, किन्तु निमित्तकर्म के आश्रय से उत्पन्न होते हैं, इसलिए उन सातों तत्त्वों को यहाँ विकार कहा है। उन सात तत्त्वों के आश्रय से एकरूप चैतन्य आत्मा दृष्टि में या अनुभव में नहीं आता और एकाकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में तथा अनुभव में सातत्त्व के भंगभेद के विकलप उत्पन्न नहीं होते।

यद्यपि संवर, निर्जरा और मोक्ष तो आत्मा की निर्मल पर्यायें हैं, किन्तु यहाँ तो तत्त्व संबंधी विकल्प को ही संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व में गिनकर उसे विकार कहा है। आत्मा में निर्मल पर्याय प्रगट हुई हो, उस पर्याय के लक्ष से भी राग की उत्पत्ति होती है और उस राग में अजीव निमित्त है। संवर, निर्जरा और मोक्ष आत्मा की निर्मल पर्यायें हैं, किन्तु उन तीन पर्यायों का भेद करके उनका आश्रय करने से विकार की ही उत्पत्ति होती है, उसके आश्रय में चैतन्य की शांति उत्पन्न नहीं होती, इसलिए उन तत्त्वों को भी विकार कहा है।

जिसे शुद्ध द्रव्य के आश्रय से संवर दशा उत्पन्न हुई है, उसकी दृष्टि उस संवर पर्याय पर नहीं

होती, किन्तु अंतर के अभेद स्वभाव पर उसकी दृष्टि होती है। उस अभेद स्वभाव की दृष्टि से ही संवर-निर्जरा प्रगट होते हैं, उसी के आश्रय से उनमें वृद्धि होती है। अभेद स्वभाव के आश्रय से ही मोक्षमार्ग है। संवर निर्जरारूप पर्याय के आश्रय से वे संवर-निर्जरा प्रगट नहीं होते, न स्थायी रहते और न वृद्धि को प्राप्त होते हैं, किन्तु उस पर्याय के आश्रय से तो राग की उत्पत्ति होती है, इसलिए एकरूप चैतन्यस्वभाव की दृष्टि और अनुभव के अतिरिक्त सात तत्त्वों के विचार करना, सो विकार है। पुण्य-पापादि सातों तत्त्व मात्र जीव की ही अवस्था में होते हैं और उनके हेतुभूत साततत्त्व मात्र अजीव की अवस्था में होते हैं। इसप्रकार जीव-अजीव का स्वतंत्र परिणमन है।

ऐसे जीवादि तत्त्वों का ज्ञान न किया जाये तो निर्मल चैतन्यस्वभाव की दृष्टि नहीं होती। सात तत्त्वों में आत्मा की पर्याय और अजीव की पर्याय भिन्न-भिन्न है। अखण्ड स्वभाव के अनुभव से सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पश्चात भी धर्मी को नवतत्त्व के विचार आते हैं, किन्तु वे विकल्प एकत्वबुद्धिपूर्वक नहीं आते, इसलिए परमार्थ से तो वह ज्ञान का ज्ञेय हो जाता है।

श्रेणिक राजा इस समय नरक में हैं और आनेवाली चौबीसी में वे प्रथम तीर्थंकर होनेवाले हैं, उनके अनेक रानियाँ और राजपाट का संयोग होने पर भी अंतर में ऐसे ज्ञायक चैतन्यतत्त्व का भान था, अस्थिरता से राग-द्वेष होने पर भी उस क्षण चैतन्य ज्ञायक में ही एकता की दृष्टि थी, इसलिए प्रतिक्षण धर्म होता था। भरत चक्रवर्ती को छह खण्ड के राज्य में ऐसा भान था। तीर्थंकर भगवान माता के पेट में हो या छोटे से बालक हों, किन्तु उन्हें ऐसा ही चैतन्य भान होता है। सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र-इन्द्राणी-शकेन्द्र और शचि इन्द्राणी, उन सबको भी ऐसा भान होता है, वे एकावतारी हैं। तीर्थंकर भगवान की सभा में सिंह, बाघ, सर्प आदि तिर्यंच भी ऐसे भान प्राप्त करते हैं, नरक में किन्हीं-किन्हीं जीवों को ऐसा भान हो जाता है, आठ वर्ष का बालक भी ऐसा भान प्राप्त करता है। यह सब भेद तो बाह्य शरीर के हैं, भीतर आत्मा तो सबका एक समान चिदानंदी भगवान है। उसका भान करके जो जागृत हो, उसे ऐसा भान होता है।

ऐसा चैतन्यमूर्ति आत्मस्वभाव समझे बिना शास्त्रों का अभ्यास भी मात्र गधे पर चंदन की काठी का बोझ रखने जैसा है। जिसप्रकार गधे पर सुगंधित चंदन की काठी रखी हो तो उसे उसकी सुगंध की खबर नहीं है, उसे तो वह मात्र बोझरूप है, उसीप्रकार जिसे आत्मा का लक्ष नहीं है, वह चाहे जितने शास्त्र पढें, किन्तु उसे शास्त्रों का वह सारा अभ्यास मात्र मन के बोझरूप है, अंतर में

चैतन्य आनंद की सुगंध उसे नहीं आती, आत्मा की शांति का अनुभव उसे नहीं होता। तिर्यंच आदि जीवों को शास्त्र का अभ्यास न होने पर भी तीर्थंकर भगवान आदि की वाणी सुनकर अंतर में यथार्थ भावों का आभास होने से आत्मा के आनंद का अनुभव प्रगट करता है।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव ने प्रत्येक वस्तु को स्वतंत्र देखा है, नवों तत्त्वों को स्वतंत्र बतलाया है। उन नवों तत्त्वों को पहिचानकर, नव के भेद विकल्प रहित मात्र ज्ञायकभाव का अनुभव करना, सो धर्म है।

यहाँ, जीव की पर्याय में सात तत्त्वों के जो भेद पड़ें, उनमें अजीव निमित्त है, इसप्रकार बात ली है, किन्तु अजीव में सात भेद पड़ें, उनमें जीव निमित्त है – यह बात नहीं ली है, क्योंकि यहाँ जीव को सातत्त्व के भेद का लक्ष छुड़ाकर स्वभाव की एकता कराना है, अजीव में कहीं सात भेद छुड़ाकर एकता कराने का प्रयोजन नहीं है। जीव के द्रव्य, पर्याय – दोनों की पहिचान करके, पर्याय भेद का लक्ष छोड़कर अभेद स्वभावोन्मुख होने का प्रयोजन है। यहाँ स्वयं भेद का लक्ष छोड़कर स्वभाव में एकाग्र होने से अजीव निमित्त का आश्रय छूट जाता है।

जिसप्रकार पानी के एक प्रवाह में बीच में सात नालेवाला पुल आने से पानी में सात भंग पड़ जाते हैं, उसमें वह पुल निमित्त है। उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा का ज्ञायक प्रवाह अनादि अनंत एकरूप है, उसकी क्षणिक अवस्था में अजीव के निमित्त से सात प्रकार पड़ते हैं, उन सातों प्रकारों को लक्ष में लेने से एकरूप चैतन्य ज्ञायक आत्मा अनुभव में नहीं आता। बाह्य में बुद्धि का विकास अधिक हो, वह इसमें कार्यकारी नहीं हो सकता, किन्तु चैतन्य की रुचि से ज्ञान को अंतरोन्मुख करने का अभ्यास करना ही अंतर के अनुभव का उपाय है।

अहो ! मैं पूर्ण ज्ञायक हूँ, ज्ञान शक्ति से परिपूर्ण हूँ, बुद्धि का विकास तो ज्ञान की अल्प अवस्था है, अरे ! केवलज्ञान भी ज्ञान की एक अवस्था है, ऐसी अनन्त अवस्थाओं का पिण्ड मेरा एक ज्ञानगुण है और ऐसे अनन्त गुणों के पिण्डरूप पूर्ण चैतन्य वस्तु मैं हूँ। ऐसे अपने अभेद आत्मा को लक्ष में लेना, सो धर्म का प्रारम्भ है।

वस्तु का स्वरूप क्या है, उसे समझे बिना लोग बाह्य उपवास आदि में धर्म मान बैठे हैं। किन्तु बाह्य में आहार नहीं आया, वह तो जड़ की क्रिया है, उस समय शुभभाव हो तो वह पुण्य है और धर्म तो उन दोनों से पार आत्मा की अंतरदृष्टि से होता है। शुभराग क्रिया, उससे धर्म नहीं होता

और आहार नहीं लिया, उससे शुभराग हुआ – ऐसा भी नहीं है और जीव के शुभभाव के कारण आहार की क्रिया रुक गई, ऐसा भी नहीं है। इसप्रकार समस्त तत्त्वों को जानना चाहिए। जिसे नवतत्त्व की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है, उसे अखण्डस्वभाव की दृष्टि नहीं होगी। 'मैं ज्ञायक हूँ' – ऐसा विचार (विकल्प) भी परमार्थश्रद्धा नहीं है। यहाँ 'मैं ज्ञायक हूँ' – ऐसे विकल्प को भी नवतत्त्वों में से जीवतत्त्व में ले लिया है। इसलिए वहाँ भी व्यवहारश्रद्धा में जाता है। शुद्ध जीवतत्त्व की श्रद्धा में 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा विकल्प नहीं है। 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसे विचार में भी भेद का विकल्प है, वह परमार्थ से जीव नहीं है। पर्याय के लक्ष से एक जीवद्रव्य को पर्यायरूप से अनुभव करने से जीव-अजीव, पुण्य-पाप आदि नवतत्त्व भूतार्थ नहीं है, किन्तु इतने तक के विचार मे जहाँ तक रुका है, वहाँ तक धर्म नहीं है। नवतत्त्व के भेद के विचार छोड़कर मात्र शुद्ध जीव का ही भूतार्थरूप से अनुभव करने से धर्म होता है।

प्रथम जीव-पुद्गल दोनों के बंध पर्याय की बात ली थी, यहाँ मात्र जीवद्रव्य की अवस्थारूप से देखने पर नवतत्त्व भूतार्थ हैं – ऐसा कहकर अब अंतरोन्मुख करते हैं कि सर्वकाल अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने से वे नवतत्त्व अभूतार्थ हैं और एक ज्ञायक एक आत्मा ही भूतार्थ है, यही सम्यग्दर्शन का उपाय है।

ज्ञायक द्रव्य ही त्रिकाली अस्खलित है, निर्मलपर्याय के समय या विकारी अवस्था के समय आत्मा का ज्ञायकभाव सदैव एकरूप है, और सातत्तत्त्व तो स्खलित हैं, क्षणिक हैं। नवों तत्त्व के विकल्प क्षणिक हैं, वे नवतत्त्व के विकल्प छोड़कर एक अखंडित ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करना, सो मोक्ष का मार्ग है। आत्मा के अखण्डस्वभाव के निकट जाकर (स्वभावसन्मुख एकाग्र होकर) अनुभव करते समय नवतत्त्व लक्ष में नहीं आते, इसलिए वे नवतत्त्व अभूतार्थ हैं। अस्थिरता के समय धर्मात्मा को नवतत्त्वों के विकल्प आयें तो उन पर उसकी दृष्टि नहीं है, उसे उस विकल्प की मुख्यता नहीं है, किन्तु एक चैतन्य की ही मुख्यता है, इसलिए नवों तत्त्व अभूतार्थ हैं, और इसी से वे नवोंतत्त्व छोड़कर मात्र भूतार्थरूप भगवान आत्मा ही उपादेय है।

किसी को ऐसी शंका हो कि 'अरे ! नवों तत्त्वों को छोड़ने योग्य कहा तो क्या जीवतत्त्व को भी छोड़ देना चाहिए ?' उसका समाधान – अरे भाई ! शांत होकर समझो, इस समय कौनसी बात चल रही है, उसका आशय पकड़ो। यहाँ विकल्प छुड़ाकर निर्विकल्प अनुभव कराने के लिए

नवतत्त्वों को हेय कहा है क्योंकि नवतत्त्व के लक्ष से विकल्प हुए बिना नहीं रहता और आत्मा का निर्विकल्प अनुभव नहीं होता। जीव के विकल्प को भी छुड़ाकर शुद्ध जीव का निर्विकल्प अनुभव कराने के लिए नवतत्त्वों में जीवतत्त्व को भी हेय कहा है। अभी जिसे बात सुनना भी कठिन मालूम होती है, वह समझ कर अंतर में अनुभव तो कब करेगा ? नाटक समयसार में कहते हैं कि –

बात सुनि चौंकि उठे बात ही सौ भौंकि उठे,
बात सौं नरम होइ बात ही सौं अकरी।
निंदा करै साधु की प्रशंसा करै हिंसक की,
साता मानैं प्रभुता असाता मानैं फकरी।।
मोख न सुहाइ दोष देखै तहाँ पैठि जाइ,
काल सौं डराइ जैसें नाहर सौं बकरी।
ऐसी दुरबुद्धि भूली झूठ झरोखे झूली,
फूली फिरै ममता जंजीरनि सौं जकरी।।39।।

– सर्वविशुद्धद्वार

इसमें दुर्बुद्धि जीव की परिणति का वर्णन किया है, उसमें कहते हैं कि अज्ञानी जीव हित-अहित का विचार नहीं करता और सत्य बात सुनते ही चौंक उठता है, बात कानों में पड़ते ही कुत्ते की भाँति भौंकने लगता है, अपनी रुचि की बात सुनकर नरम हो जाता है और अरुचि कर बात हो तो चिढ़ जाता है और वह जीव मोक्षमार्गी साधुओं की निंदा करता है तथा हिंसक-अधर्मियों की प्रशंसा करता है, साता के उदय में अपने को महान मानता है और असाता के उदय में तुच्छ गिनता है, उसे मोक्ष तो अच्छा नहीं लगता और कहीं दुर्गुण देखने में आये तो उसे झट अंगीकार कर लेता है और उसे शरीर में अहंबुद्धि होने के कारण वह मृत्यु से इतना डरता है कि जिसप्रकार बाघ से बकरी डरती है। इसप्रकार उसकी मूर्खता अज्ञान से असत्य के मार्ग में झूल रही है और ममत्व की सांकल से बंधकर वृद्धि पा रही है।

यहाँ कहते हैं कि भाई रे, सुन तो ! वह कौन-सी बात है ? धर्म की सत्य बात कानों में पड़ना दुर्लभ है। शांत होकर अंतर में समझे तो इस बात की महिमा की खबर पड़े। शुद्ध पर्याय का

अवलंबन करके उसका आदर करने से भी विकल्प उठता है और राग होता है, त्रिकाली चैतन्यस्वभाव के आदर में वह पर्याय प्रगट हो जाती है। पर्याय के आश्रय में रुकने से निर्मल पर्याय नहीं होती किन्तु शुद्ध द्रव्य के आश्रय में रुकने से वह पर्याय स्वयं निर्मल हो जाती है। निर्मल पर्याय वस्तु के आधार से प्रगट होती है, इसलिए निर्मलपर्याय प्रगट करनेवाले की दृष्टि वस्तु पर होती है, पर्याय पर दृष्टि नहीं होती। उस वस्तु दृष्टि में नवों तत्त्व अभूतार्थ हैं। नवों तत्त्वों को अभूतार्थ कहकर यहाँ पर्यायदृष्टि को ही हेय कहा है और अखण्ड चैतन्यतत्त्व सर्वकाल अस्खलित है, उसकी दृष्टि कराई है। संवर, निर्जरा या मोक्ष आदि कोई तत्त्व सर्वकाल अस्खलित नहीं है, इसलिए वह सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। सर्वकाल अस्खलित तो एक चैतन्यद्रव्य ही है, वही सम्यग्दर्शन का ध्येय है। इसलिए भूतार्थनय से देखने पर नवों तत्त्वों में एक जीव ही प्रकाशमान है, उसके अनुभव से ही सम्यग्दर्शनादि होते हैं। ऐसे भूतार्थरूप शुद्ध आत्मा को प्रतीति में लेना वह इस गाथा का अन्तिम योगफल है और यही आत्मार्थी जीव का कर्त्तव्य है।

('आत्मार्थी जीव का पहला कर्त्तव्य' बतलानेवाली यह लेखमाला
आगामी अंक में पूर्ण होगी)

दर्शनशुद्धिपूर्वक श्रावक की –
ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन

सर्वप्रथम चौथे गुणस्थान में दर्शनविशुद्धि होती है, तत्पश्चात् ही पांचवें गुणस्थान में दर्शनप्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमाएँ होती हैं, वे प्रतिमाएँ अंतर के गुण के विकास अनुसार होती हैं, बाह्यक्रियानुसार नहीं होती। श्रावकों के ग्यारह पद हैं, उनमें समस्त श्रावकों को अंतर में आत्मा का भान होता है और उसमें अंशत: स्थिरतारूप रत्नत्रय की भक्ति होती है। इसके बिना श्रावक की एक भी प्रतिमा नहीं होती।

एकादशपदी श्रावकों में जघन्य छह, मध्यम तीन और उत्तम दो हैं – यह सब शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। श्रावकों के ग्यारह भेद हैं अर्थात् ग्यारह प्रतिमाएँ हैं, वह प्रत्येक सम्यग्दर्शन – ज्ञानपूर्वक ही होती है। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि समस्त श्रावक भी शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति–आराधना करते हैं। जितनी सम्यग्दर्शन–ज्ञानपूर्वक वीतरागता है, उतनी शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति है और उतना श्रावक का धर्म है। जो राग है, वह कहीं श्रावक का धर्म नहीं है। एक से लेकर ग्यारह प्रतिमावाले श्रावक क्या करते हैं। शुद्ध रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। स्वभाव के आश्रय से जितनी रत्नत्रय की आराधना करें, उतना ही धर्म है।

यह नियमसार भागवत् शास्त्र है, इस समय इस भागवत् शास्त्र का भक्ति अधिकार चल रहा है। जिससे श्रावकों को या श्रमणों को मुक्ति प्राप्त हो, ऐसी सच्ची भक्ति किसे कहते हैं ? वह यहाँ आचार्यदेव बतलाते हैं। मुनिवरों या गृहस्थ श्रावकों को भी अपने शुद्ध परमात्मतत्त्व के श्रद्धा–ज्ञान–चारित्ररूप शुद्ध रत्नत्रय का जो भजन, वही भक्ति है। रत्नत्रय की भक्ति कहो या रत्नत्रय की आराधना कहो, वह मुक्ति का कारण है।

प्रथम शुद्ध आत्मा का निर्विकल्प सम्यग्दर्शन, वह भी भक्ति है। मैं तो शुद्ध चिदानन्द हूँ, राग का एक अंश भी मेरा नहीं है – ऐसा यथार्थ भान करके शुद्ध आत्मा की आराधना करना, सो

परम भक्ति है। शुद्ध परमात्मतत्त्व का सम्यक् भान होने के पश्चात् उसमें अंशतः स्थिरता द्वारा रत्नत्रय की आराधना करनेवाले श्रावकों को ग्यारह भूमिकाएँ हैं, उसमें एक से छह प्रतिमा तक के जघन्य श्रावक हैं, सात से नव प्रतिमा तक के मध्यम श्रावक हैं और अन्तिम दो प्रतिमा वाले उत्तम श्रावक हैं। परन्तु यह समस्त पद शुद्ध परमात्मतत्त्व के श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक ही होते हैं, क्योंकि प्रतिमा तो पाँचवें गुणस्थान में होती है और दर्शनविशुद्धि तो चौथे गुणस्थान में होती है। शुद्ध आत्मा के भान से दर्शनशुद्धि हुए बिना तो चौथा गुणस्थान भी नहीं होता, तो फिर पाँचवें गुणस्थान का श्रावकत्व या प्रतिमा तो होगी ही कहाँ से ? दर्शनविशुद्धि के पश्चात् आत्म-स्वभाव का अवलम्बन ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों त्यों गुणानुसार श्रावक की ग्यारह भूमिकाएँ होती हैं। अंतर में अखण्डानंद परिपूर्ण परमात्मस्वभाव की श्रद्धा के पश्चात् उसमें जितनी रमणता हो, उतने अंश में प्रतिमा आदि होते हैं। स्वभाव के अवलम्बन से ज्यों ज्यों शुद्धता बढ़ती जाती है, त्यों त्यों राग छूटता जाता है और तदनुसार राग के निमित्तों के साथ का संबंध भी सहजरूप से छूटता जाता है। अंतर की शुद्धता के अतिरिक्त बाह्य क्रियाकाण्ड में या राग में धर्म मान ले, उसे तो मिथ्यात्व है, उसे एक भी प्रतिमा नहीं होती। अंतर की शुद्धपरिणतिपूर्वक शुभगरा हो, उसे तो व्यवहार से प्रतिमा कहा जाता है, किन्तु जो अंतर की शुद्ध परिणति रहित शुभराग है, उसे तो व्यवहार प्रतिमा भी नहीं कहा जाता।

यह खास ध्यान रखना चाहिए कि श्रावकों के जो ग्यारह पद हैं, वे सब सम्यक्त्वपूर्वक हठ रहित सहजदशा है। दर्शनविशुद्धिपूर्वक श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप इसप्रकार है -

1. दर्शनप्रतिमा - यह पाँचवें गुणस्थानवाले श्रावक की बात है, दर्शनविशुद्धि तो चौथे गुणस्थान में होती है और यह दर्शनप्रतिमा पाँचवें गुणस्थान में होती है, इस प्रतिमावाले श्रावक को मद्य, मांस, मदिरा आदि के त्यागरूप अष्ट मूलगुण प्रतिज्ञापूर्वक होते हैं, स्वभाव के आश्रय में उसे इतनी शुद्धता प्रगट हो गई है कि वहाँ उसप्रकार का राग होता ही नहीं। दर्शनशुद्धिपूर्वक ऐसी दशा प्रगट हो, उसका नाम पहली प्रतिमा है।

2. व्रत प्रतिमा - चैतन्य के भानपूर्वक उसमें लीनता की वृद्धि होने से श्रावक के बारह अणुव्रत प्रगट होते हैं। वहाँ बारह व्रतों का जो शुभ विकल्प है, वह तो राग है, आस्रव है, वह वास्तव में प्रतिमा नहीं है, अंतर में चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से जितना राग का अभाव होकर वीतरागता की वृद्धि होती है, उतनी आराधना और भक्ति है, और तदनुसार प्रतिमा होती है। दर्शन

प्रतिमा के पश्चात् चैतन्य का अवलम्बन बढ़ने से शुद्धता के विशेष अंश प्रगट हों, तब दूसरी व्रत प्रतिमा प्रगट होती है। इसप्रकार प्रत्येक प्रतिमा में समझ लेना चाहिए। ज्यों ज्यों शुद्धता के अंशों में वृद्धि होती जाती है, त्यों त्यों प्रतिमा बढ़ती जाती है। इसप्रकार सभी प्रतिमाओं में शुद्ध चैतन्य का ही अवलम्बन है।

3. समायिक प्रतिमा – चैतन्य के भानपूर्वक उसके आश्रय से जितनी निर्विकल्प शांति रहे, उतनी सामायिक है। श्रावक निरंतर एकाग्रता का प्रयोग करता है। स्वभाव के अवलम्बन से जितनी वीतरागता हो गई है, उतनी सामायिक तो उसके सदाकाल चौबीस घंटे वर्तती है और तदुपरान्त विशेष लीनता का प्रयत्न करता है। ऐसी सामायिक प्रतिमा है।

स्वभाव के अवलम्बन द्वार शुद्धता में वृद्धि होकर जिसे सामायिक प्रतिमा प्रगट हुई, वह श्रावक जब सामायिक में बैठा हो, तभी उसे सामायिक प्रतिमा होती है और पश्चात् खाते-पीते समय उसे वह प्रतिमा नहीं होती – ऐसा नहीं है, स्वभाव के आश्रय से जितनी वीतरागता प्रगट हुई है, तदनुसार प्रतिमा सदैव वर्तती ही है।

बारह व्रतों में सामायिक व्रत आता है, परन्तु उसमें नियमपूर्वक नहीं है और तीसरी प्रतिमा में तो नियमपूर्वक सामायिक होती है।

स्वभाव के भानपूर्वक दर्शनप्रतिमावाले श्रावक को दर्शनप्रतिमा निरंतर होती है, व्रतप्रतिमा वाले को व्रतप्रतिमा निरंतर होती है, सामायिक प्रतिमावाले को सामायिक प्रतिमा निरंतर होती है। स्वभाव के अवलम्बन से उतनी उतनी शुद्धता वर्तती ही रहती है।

4. प्रौषधोपवास प्रतिमा – अष्टमी-चतुर्दशी पर्व तिथिओं के दिन चैतन्य की शांतिपूर्वक उपवास करे और आहार का राग छूट जाये, ऐसी शुद्धता प्रगट हो, उसका नाम चौथी प्रतिमा है। उसमें जो स्थिरता के अंश की वृद्धि है, उसका नाम प्रतिमा है, वहाँ जो राग है, वह कहीं धर्म नहीं है।

देखो, 'अष्टमी-चर्तुदशी का उपवास करता है, तभी यह प्रतिमा होती है और अन्य दिवसों में यह प्रतिमा नहीं होती' – ऐसा नहीं है, उसे उतना स्थिरता का अंश बढ़कर राग छूट गया है, इसलिए प्रौषधोपवास प्रतिमा उसके सदैव वर्तती ही रहती है, अन्य दिवसों में आहार करता हो, तब भी उसके यह प्रतिमा तो वर्तती ही है, क्योंकि उस समय भी अष्टमी-चर्तुदशी के दिन आहार

करने के राग का तो उसके अभाव ही वर्त रहा है।

श्रावक को अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरणीय – इन दो कषायों का तो अभाव हो गया है, तदुपरान्त स्वभाव का अवलम्बन ज्यों ज्यों बढ़ता जा रहा है, त्यों त्यों तीसरा प्रत्याख्यानावरणीय कषाय भी मंद पड़ता जा रहा है और आत्मा की शुद्धि में वृद्धि हो रही है, उस शुद्धता के अनुसार यह ग्यारह प्रतिमाएँ होती हैं, शुद्धता के ही यह ग्यारह प्रकार हैं।

5. सचित्तत्यागप्रतिमा – आगे बढ़ने पर सचित्त वस्तु के ग्रहण का भाव न हो, इतनी सहज वीतरागता हो जाये, उसका नाम पाँचवीं प्रतिमा है। इस पाँचवीं प्रतिमावाले को सचित्त में से अचित्त करे, ऐसा भाव होता है। परन्तु सचित्त आहार जल का ग्रहण नहीं करता।

अंतर में कारणशुद्धपरमात्मा के अवलम्बन से प्रथम सम्यग्दर्शन होने से अपूर्व आत्मशांति प्रगट होती है और पश्चात् उसके विशेष अवलम्बन से अकषायी शांति की वृद्धि होने से पाँचवें गुणस्थान की प्रतिमा प्रगट होती है। सचित्त आहारादि का त्याग तो बाह्य की बात है, वास्तव में आत्मा आहारादि का ग्रहण–त्याग नहीं कर सकता, परन्तु अंतर में चिदानंद ज्ञाता की शांति बढ़ने से वैसा सचेत आहार–जल का राग ही नहीं होता, इसलिए सचेत वस्तु के साथ का निमित्त–नैमित्तिक संबंध भी छूट जाता है। इसका नाम सचित्त त्याग प्रतिमा है। मैं सचित्त आहार का ग्रहण–त्याग कर सकता हूँ – ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसे सचित्त–त्याग प्रतिमा होती ही नहीं; उसे तो दर्शनशुद्धि भी नहीं होती। दर्शनशुद्धि के पश्चात् श्रावक को स्वभाव के आश्रय से ज्यों ज्यों विशेष राग छूट जाता है, त्यों त्यों प्रतिमा बढ़ती जाती है। देखो, यह श्रावक के धर्म की आराधना ! मुनिदशा और श्रावक दशा वह अंतर की वस्तु है।

6. रात्रिभोजनत्याग प्रतिमा – छठवीं प्रतिमावाले श्रावक को स्वभाव के आश्रय से ऐसी शुद्धता प्रगट हो गई है कि रात्रिभोजन का नियमपूर्वक अतिचाररहित त्याग हो गया है। अंतर में चिदानंदस्वरूप में स्थिरता की वृद्धि होने से चारों प्रकार के रात्रि भोजन का विकल्प भी नहीं आता, उसका नाम रात्रिभोजन त्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमावाले श्रावक को दिवस के भाग में खाने का भाव आये और खाता हो, तब भी यह रात्रिभोजन त्याग प्रतिमा वर्तती है।

सामान्यरूप से तो रात्रिभोजन त्याग श्रावक के होता ही है, परन्तु उस प्रतिमावाले को तो नियमपूर्वक रात्रिभोजन का त्याग है और भीतर स्वभाव की उतनी शुद्धता बढ़ी है। अंतर में शुद्धता

हुई, इसलिए बाह्य में रात्रिभोजन छूट गया अथवा तो बाह्य में रात्रिभोजन छूटा, इसलिए भीतर शुद्धता हुई – ऐसा नहीं है, परन्तु ऐसा सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध है कि अंतर में स्वरूप की शुद्धता बढ़ने से राग दूर हुआ, तदनुसार उसके निमित्त भी दूर हो जाते हैं। देह की और आहार की क्रिया तो उस क्षण उसके कारण होती है और उसके कारण रुकती है, मैं तो ज्ञाता हूँ – ऐसे भानपूर्वक स्वरूप में स्थिरता के अंश ज्यों ज्यों बढ़ते जाते हैं, त्यों त्यों यह प्रतिमाएँ होती हैं।

7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा – यह श्रावक के धर्म की बात चल रही है। स्वभाव के आश्रय से रत्नत्रय की आराधना करने से ज्यों ज्यों राग छूटता जाता है, त्यों त्यों यह प्रतिमाएँ होती हैं। ज्ञानानंद परम ब्रह्मस्वरूप निज आत्मा का भान होकर उसमें इतनी लीनता प्रगट हुई कि विषय का भाव ही छूट गया और बाह्य में निमित्तरूप से देह की वैसी क्रिया भी छूट गई, उसका नाम ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। अंतर की शुद्ध परिणति के साथ संधिपूर्वक की यह बात है। इस ब्रह्मचर्य प्रतिमा में नियमपूर्वक का शुद्ध ब्रह्मचर्य होता है। इससे पूर्व सामान्य ब्रह्मचर्य का भाव होता है, परन्तु उसे प्रतिमा नहीं कहा जाता। अंतर में चिदानन्दस्वरूप के भानसहित विशेष शुद्धता प्रगट होने से राग का सहज त्याग हो, तभी प्रतिमा कही जाती है। मात्र बाह्य में छोड़कर या शुभराग करके अपने को व्रत या प्रतिमाधारी मान बैठे हो और अंतर में शुद्ध परिणति का तो ठिकाना न हो, उसे व्रत या प्रतिमा नहीं होते। उसके लिए तो कहा है कि –

लह्युं स्वरूप न वृत्तिनुं ग्रह्युं व्रत अभिमान,
ग्रहे नहि परमार्थने लेवा लौकिक मान।

अंतर की शुद्ध परिणति के भान बिना, बाह्य क्रियाकाण्ड में या राग में धर्म मानकर जो अपने को व्रतधारी मानता है, उसके वास्तव में व्रत नहीं है, किन्तु व्रत का अभिमान है। अंतरंग स्वरूप के भानपूर्वक उसमें एकाग्रता बढ़ने से उसमें से व्रत और प्रतिमा आते हैं, कहीं बाह्य में से व्रत या प्रतिमा नहीं आते। कोई कहे कि 'मुझे सात प्रतिमाएँ दो!' वहाँ सामनेवाला कहे कि 'लो, यह सात प्रतिमाएँ।' तो क्या किसी दूसरे के पास से प्रतिमाएँ आती होंगी ? प्रतिमा किसी अन्य के पास से नहीं आती और न बाह्य में वेश परिवर्तन से प्रतिमा होती है। प्रतिमा तो अंतर की वस्तु है। स्वभाव में स्थिरता बढ़ने से राग रहित पर्याय प्रगट होती है, तदनुसार प्रतिमा है, ऐसी प्रतिमा जब स्वयं अपने स्वभाव में से प्रगट करे, तब श्रीगुरु ने प्रतिमा दी—ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

8. आरंभत्यागप्रतिमा – पाँचवीं प्रतिमा में से सचेत का त्याग था, परन्तु वहाँ अभी सचेत में से अचेत करने के आरंभ परिणाम का त्याग नहीं था, यहाँ तो स्वरूप में इतनी स्थिरता बढ़ी कि सचेत में से अचेत करने के आरंभ का भाव भी नहीं आता। हरियाली काटना, चूल्हा सुलगाना आदि आरंभ के भाव आठवीं प्रतिमावाले श्रावक के नहीं होते। किसी पर का घात करने की या बचाने की पर्याय में नहीं कर सकता, मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ – ऐसा भान तो धर्मी को चौथे गुणस्थान में हो गया है, तत्पश्चात् ज्ञानस्वरूप के अवलम्बन में स्थिर होने से ऐसी शुद्धता बढी कि आरंभ का राग ही छूट गया और बाह्य में आरम्भ की क्रिया भी स्वयमेव छूट गई, इसका नाम आठवीं प्रतिमा है। 'आरंभ का त्याग' – ऐसा निमित्त से कहा जाता है, वास्तव में आत्मा ने बाह्यक्रिया को नहीं छोड़ा है और बाह्य में आरम्भ छूटा, इसलिए अंतर में शुद्धता प्रगट हुई – ऐसा भी नहीं है। अंतर में शुद्धता की वृद्धि होने से राग छूट गया, वहाँ निमित्त से ऐसा कहा जाता है कि आत्मा ने आरंभ का त्याग किया। वास्तव में बाह्य के त्याग में आत्मा की प्रतिमा नहीं है, परन्तु अंतर के चिदानंदस्वभाव में एकाग्रता की वृद्धि होने से शुद्धता का अंश बढ़ा और आरम्भ का भाव छूट गया उसका नाम प्रतिमा है। इस प्रतिमावाले श्रावक को स्वभाव का अवलम्बन इतना वर्तता है कि चौबीसों घंटे आरम्भ त्याग प्रतिमा वर्तती है, आरम्भ का भाव उसके उत्पन्न ही नहीं होता।

9. परिग्रहत्याग प्रतिमा – आठवीं प्रतिमा तक परिग्रह का राग होता है, परन्तु फिर अंतर में चिदानन्दस्वरूप का विशेष अवलम्बन लेने से परिग्रह का राग छूट जाता है, वहाँ परिग्रह को छोड़ा – ऐसा निमित्त से कहा जाता है। वास्तव में तो स्वभाव के आश्रय से शुद्धता होने से राग होता ही नहीं, इसलिए राग का त्याग भी व्यवहार से है। देखो, इसमें व्यवहार भी आ जाता है। किसप्रकार ? ध्रुव चैतन्य का अवलम्बन लेने से शुद्धता हुई, वह निश्चय और राग छूटा, वह व्यवहार और राग छूटने से राग के निमित्तों के साथ संबंध छूट गया, वहाँ आत्मा ने उन निमित्तों को छोड़ा – ऐसा कहना, वह असद्भूत व्यवहार है। शुद्धता की वृद्धि होने से राग का और उसके निमित्त का संबंध छूट ही जाता है – ऐसा नियम है। इस नवमीं प्रतिमावाले के अभी वस्त्र होते हैं, परन्तु पैसादि का परिग्रह नहीं होता। पैसे का निकट आना अथवा दूर जाना, वह तो जड़ की क्रिया है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है। राग था, तब लक्ष्मी आदि का परिग्रह कहा और राग छूटने से लक्ष्मी आदि परिग्रह को छोड़ा – ऐसा कहा। इस ओर चैतन्य में स्थिरता बढ़ी, वहाँ पैसादि परिग्रह की ओर का भाव छूट गया, उसका नाम परिग्रहत्याग प्रतिमा है।

देखो, इस वीतराग दर्शन में श्रावक की प्रतिमा ! इसमें हठ नहीं किन्तु सहज है, ज्यों ज्यों स्वरूप में स्थिरता होती जाती है, त्यों त्यों यह प्रतिमा होती है।

10. अनुमतित्याग प्रतिमा – इस प्रतिमावाले श्रावक अपने लिए आहारादि की अनुमति नहीं देते। मेरे लिए यह बनाना, ऐसा करना – ऐसा दसवीं प्रतिमावाले नहीं कहते, शरीर में रोगादि हो वहाँ 'मेरे लिए अमुक वस्तु बनाना' – इसप्रकार अपने लिए आहार की अनुमोदना का विकल्प भी नहीं आता, ऐसी अंतर की शुद्धता बढ़ गई है। कोई उससे पूछे कि 'आपके लिए क्या करूँ ?' तो वह उत्तर नहीं देता। इस प्रतिमावाला अपने लिए बनाया हुआ आहार लेता है, परन्तु स्वयं ऐसी अनुमति नहीं देता कि मेरे लिए अमुक वस्तु बनाना।

11. उद्दिष्टत्याग प्रतिमा – इस प्रतिमावाले श्रावक अपने लिए बनाया हुआ आहार नहीं लेते। सहजरूप से उन्हें वैसे आहार का विकल्प टूट जाता है, इतनी स्वरूप की स्थिरता बढ़ गई है। इस प्रतिमावाले श्रावक में क्षुल्लक और ऐलक ऐसे दो प्रकार हैं। उन क्षुल्लक या ऐलक को अपने लिए बनाए हुए आहार लेने की वृत्ति नहीं उठती। उन्हें रोग हुआ हो और उनके लिए कोई खास आहारादि बनाए तो वे नहीं लेते, उन्हें वह आहार लेने का भाव ही नहीं आता, ऐसी चैतन्य के आश्रय से शुद्धता बढ़ गई है। शुद्धता में वृद्धि होने से राग छूटा, वहाँ उद्दिष्ट आहार को छोड़ा – ऐसा निमित्त से कहा जाता है। वास्तव में आहार छूटा, वह तो निमित्त के कारण स्वयं छूटा है, आत्मा ने उसे नहीं छोड़ा।

ऐसी ग्यारह प्रतिमाओं की वस्तुस्थिति है। उसमें प्रथम छह प्रतिमावाले जघन्य श्रावक हैं, सात-आठ-नव प्रतिमावाले मध्यम श्रावक हैं और दस-ग्यारह प्रतिमा वाले उत्तम श्रावक हैं। परन्तु यह बात खास ध्यान में रखने योग्य है कि यह प्रतिमाएँ सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होती हैं। सम्यग्दर्शनपूर्वक चैतन्य के आनंद का अनुभव बढ़ते-बढ़ते हठ बिना सहजरूप से ऐसी प्रतिमाएँ होती हैं। देखो, श्रावक की ऐसी दशा होती है कि उसका नाम भक्ति है, उसका नाम रत्नत्रय की आराधना है और वह श्रावकों का धर्म है, इसके अतिरिक्त राग में धर्म नहीं है और बाह्य पदार्थों का ग्रहण-त्याग तो आत्मा कर ही नहीं सकता। आत्मा में 'त्यागोपादानशून्यत्व' नाम का धर्म है, इसलिए आत्मा पर का ग्रहण या त्याग नहीं करता। ऐसे आत्मा के भानपूर्वक हठरहित वीतरागी दशा प्रगट हो, वहाँ ऐसी प्रतिमा होती है। हठ करके बाह्य में त्याग करे, उससे कहीं प्रतिमा नहीं हो

जाती। शुद्ध स्वभाव में अन्तरोन्मुखता से ज्यों ज्यों गुण की शुद्धता प्रगट होती जाती है, त्यों त्यों ऐसी वीतरागी प्रतिमा श्रावक के प्रगट होती जाती है।

इसप्रकार जो वीतरागी पर्याय को भजे, वह श्रावक भक्त है, वह रत्नत्रय का आराधक है। स्वभाव के आश्रय से जितनी गुण की निर्मलता होती है, उतनी प्रतिमा निरंतर होती है, वहाँ गुण की शुद्धि अनुसार राग का त्याग और उसके निमित्त का त्याग होता है। अंतर में शुद्ध रत्नत्रय की आराधना से रहित व्रत-तप-त्याग और प्रतिमाएँ तो बालव्रत, बालतप, बालत्याग और बालप्रतिमा हैं, 'बाल' अर्थात् मूर्खतायुक्त-अज्ञानी के व्रत-तप-त्यागप्रतिमा हैं। चैतन्यस्वभाव का भान करके श्रावक रत्नत्रय को भजता है, उतनी भक्ति है और उतना धर्म है, उसी के शुद्धतानुसार यथार्थ प्रतिमा आदि होते हैं।

श्रावक की प्रतिमाओं का ऐसा स्पष्ट वर्णन प्रवचन में प्रथमबार ही आया है।

सुवर्णपुरी समाचार ---------- (माह वद 5)

— परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री सुखशांतिमां विराजे छे.

— सवारना प्रवचनमां श्री नियमसारजी शास्त्र बंचाय छे तेनी 143 गाथाओ वंचाई गई छे.

— बपोरना प्रवचनमां नवमी वखत श्री समयसारजी शास्त्र वंचातुं हतुं, ते माह सुद छट्ठना रोज पूर्ण थयेल छे, अने माह सुद सातमथी श्री पंचास्तिकाय शास्त्र वंचाय छे, तेनी 20 गाथाओ वंचाणी छे.

सोनगढ़ में

श्री श्राविका-ब्रह्मचर्याश्रम का-उद्घाटन समारोह

गत वर्ष सीमंधर भगवान की प्रतिष्ठा के वार्षिक महोत्सव के अवसर पर कलकत्ता से श्रीमान सेठ वच्छराजजी (लाडनूवाले) अपनी धर्मपत्नी सहित पहली बार ही सोनगढ आये थे, पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन सुनकर तथा सोनगढ़ में हो रही महान धर्मप्रभावना को देखकर वे अत्यन्त हर्षित हुए। विशेष उल्लास आ जाने से उन्होंने उसी समय सोनगढ़ में जमीन खरीद कर एक लाख के उपरान्त रुपया लगाकर एक सुंदर भवन बनवाया है, जिसका नाम 'श्रीमती गोगीदेवी दि. जैन श्राविका ब्रह्मचर्याश्रम' रखा है। माघ शुक्ला 5, गुरुवार के दिन महान उत्साहपूर्वक इस आश्रम का उद्घाटन हुआ। इस आश्रम में पूज्य बहिनश्री बहिन जैसी पवित्र आत्माओं की मंगलछाया में मुख्यतया बाल ब्रह्मचारिणी बहिनें रहती हैं।

उद्घाटन के अगले दिन आश्रम में जप, शांतिपाठ, अभिषेक, जल यात्रा आदि विधियाँ हुई थीं। इस प्रसंग पर श्री महावीर भगवान को आश्रम में पधराया। उस समय भक्तजन उल्लासपूर्वक गाते थे –

'मारा जीवन तणी शुद्ध शेरीअे प्रभु आव्या छे,
माया हैयाना अणमूलाहार प्रभुजी पधार्या छे।

माघ शुक्ला 5 के प्रातःकाल पूज्य बहिनश्री बहिन के प्रथम के निवासस्थान से गाजे-बाजे के साथ प्रभात फेरी निकली थी और नगर में घूम कर स्वाध्याय मंदिर आई थी, वहाँ से पूज्य श्री स्वामीजी सहित समस्त संघ आश्रम में आया था और वहाँ श्रीमान वच्छराजजी शेठ ने आश्रम का उद्घाटन किया था। पूज्य स्वामीजी ने अपने पुनित पदार्पण करके आश्रम को पावन किया था...इस प्रसंग पर आश्रमवासी बहिनों के एवं मुमुक्षु संघ के हर्ष का पार न था।

उद्घाटन के पश्चात् आश्रम के मण्डप में ही पूज्य स्वामीजी ने मांगलिक सुनाया था और

संघ की ओर से श्रीमान सेठ वच्छराजजी का आभार प्रदर्शन किया गया था। सेठ वच्छराजजी ने पूज्य स्वामीजी का उपकार व्यक्त करके, पुष्पमालाओं से पूज्य बहिनश्री बहिन का सम्मान किया था और आश्रम के स्थायी संचालन के लिए रुपये 25001 की सहायता घोषित की थी।

तत्पश्चात् आश्रम के सुसज्जित भव्य मण्डप में पूज्य गुरुदेव ने प्रवचन किया था। प्रवचन में सिद्ध भगवान की भक्ति का अद्भुत वर्णन आया था। प्रवचन समाप्त होने पर पूज्य स्वामीजी की स्तुति की गई थी और 'पंचकल्याणक प्रवचन' नाम की पुस्तक का प्रकाशन हुआ था।

आज पूज्य स्वामीजी के पुनीत आहारदान का प्रसंग आश्रम की प्रणेता पूज्य बहिनश्री बहिन के यहाँ हुआ था। अहो ! उल्लासपूर्ण आहारदान का वह भव्य प्रसंग देखकर भक्तों के अंतर में से 'अहो दानम् अहो दानम्' – ऐसे उद्गार निकल जाते थे।

आश्रम के उद्घाटन के उल्लास के साथ ही साथ दोपहर को 'मानस्थंभ' के फंड में उत्साहपूर्वक भाग लेकर मुमुक्षुओं ने उस फंड को 70000/– सत्तर हजार से भी ऊपर पहुँचा दिया था।

दोपहर को भक्ति आदि उत्साहपूर्वक हुए थे। रात्रि को आश्रम में भी भक्ति हुई थी तथा बालकों ने वारिषेध कुमार का संवाद किया था।

आश्रम की उद्घाटन विधि कराने के लिए कारकल (मैसूर) के सुव्वय्य शास्त्री आये थे, प्रवचन और तत्त्वचर्चा आदि से वे अत्यन्त प्रभावित हुए थे और बारम्बार कहते थे कि अहो ! वक्ता की प्रमाणता से वचन की प्रमाणता है। मद्रास की ओर पधारने की प्रार्थना करते हुए उन्होंने पूज्य गुरुदेव से कहा था कि आप यदि मद्रास की ओर पधारें तो वहाँ ज्ञान को उद्योत हो।

उद्घाटन के प्रसंग पर इन्दौर से श्रीमान सर सेठ हुकुमचन्दजी का पत्र आया था, उसमें से सेठ वच्छरायजी के लिए लिखते हैं कि – 'हम आपको हार्दिक धन्यवाद देते हैं, आप व आपकी धर्मपत्नी द्वारा इस शुभ धार्मिक संस्था की स्थापना की गई तथा सत्यधर्म के प्रवर्तक, आत्मकल्याण के हेतु, जैनधर्म के अध्यात्मवाद के उपदेशक सद्गुरु श्री कानजी स्वामी पर आपने श्रद्धा कर सच्चे धर्म व सेवा भाव को समझ लिया व वैसी ही प्रवृत्ति में लगे हैं, यह जानकर हमें जो खुशी हुई है, उसको हम लेखनी द्वारा नहीं लिख सकते, हमारी तो यही कामना है कि आपने सच्चे

गुरु की श्रद्धा व सच्चे धर्म के तत्त्वों के मर्म को पहिचान लिया है तो पूज्य श्री कानजी स्वामी की सेवा में ही रह कर शेष अधिक काल आत्मकल्याण के हेतु ही व्यतीत कर उच्च कोटि के धर्म को प्राप्त करना चाहिए, हमें खेद है कि हम उक्त अवसर पर सम्मिलित नहीं हो सकते हैं...हमारी आकांक्षा है कि उद्घाटन समारोह बड़े आनंद व उत्साह के साथ पूर्ण हो।'

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के पहली बार के टूंक समागम में ही सेठ वच्छराजजी, सेठ ने और आपके धर्मपत्नी श्रीमती मनफूलादेवी ने जो भक्ति-उत्साह व उदारता दिखलाई है, उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

अंत में यही भावना है कि - परमपूज्य गुरुदेव के महान प्रभावना उदय के प्रताप से स्थापित हुए, इस आश्रम में, आश्रमवासी बहिनें आत्मलाभ प्राप्त करें....उसमें वृद्धि हो।

सुवर्णपुरी समाचार ---------- (माह वद 5)

— श्री 'पंचकल्याणक-प्रवचनो' नामनुं पुस्तक प्रसिद्ध थयुं छे, आ पुस्तकमां सोनगढ़-राजकोट-वींछीया अने लाठीमां कुल पांच वार थयेला पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सवोनां खास प्रवचनो, उल्लासभर्यां संस्मरणो तेमज केटलांक चित्रो पण छे. आ पुस्तक सर्वसाधारणमां उपयोगी थई शके तेवुं सरळ छे. पृष्ठ 400 उपरांत, किंमत 2-4-0

— श्री समयसार परमागमनी नवीन आवृत्ति संस्कृत टीका सहित छपाय छे.

— श्री पंचास्तिकाय शास्त्रनो गुजराती अनुवाद थई रह्यो छे.

— श्री समयसार बंध अधिकार उपरनां प्रवचनो छपाय छे.

शुद्ध उपयोग ही धर्म है

18. शुद्धोपयोग ही धर्म है

आत्मा का स्वरूप स्वतंत्र और शुद्ध होने पर भी अनादि से परद्रव्य के संबंध से स्वयं शुभ-अशुभभाव करता है, इसलिए उसे कर्मों का बंधन होता है। वे शुभ-अशुभभाव आत्मा को धर्म का कारण नहीं है। आत्मा अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का आश्रय करे तो शुद्धोपयोग होता है, वही धर्म है।

19. स्वयं सिद्धवस्तु

यह आत्मा देह से भिन्न स्वयंसिद्ध वस्तु है, किसी ईश्वर ने उसे नहीं बनाया। ईश्वर तो शुद्ध आत्मा है, वे किसी का कुछ नहीं करते। कर्ता किसी वस्तु को बिलकुल नवीन नहीं बना सकता। स्वयंसिद्ध नित्य वस्तु का कर्ता कोई हो ही नहीं सकता। यदि वस्तु का कर्ता कहा जाये तो वह भी वस्तु अनित्य सिद्ध होती है, क्योंकि बनाई हुई वस्तु अनित्य होती है, त्रिकाली वस्तु को बनाया नहीं जा सकता। कार्य त्रिकाली वस्तु नहीं है, किन्तु वस्तु की अवस्था है। प्रतिसमय पदार्थ की नवीन-नवीन अवस्था होती है, उसका कर्ता वह पदार्थ स्वयं है। आत्मा अनादि अनंत पदार्थ है और अपनी शुद्ध या अशुद्ध अवस्था का कर्ता स्वयं ही है।

20. स्वद्रव्यानुसार परिणति ही धर्म है, परद्रव्यानुसार परिणति विकार है

आत्मा अनादि-अनंत ज्ञान की निधि है, वैसे आत्मा को पुण्य-पाप जितना मानना, सो अज्ञान है। जो पुण्य-पापभाव होते हैं, वह अशुद्ध भाव है, वह आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं है। आत्मा तो चैतन्य शक्ति से अखण्डित प्रतापवाला है, उस आत्मा का आश्रय करे तो शुद्धभाव होता है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा में शुद्धोपयोग होता है, वह वास्तव में परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन होने से ही होता है, कर्म आदि निमित्त के कारण अशुद्धोपयोग कहना उपचार मात्र है। जड़कर्म का किसी समय तीव्र उदय होता है और कभी मंद उदय होता है, उस समय आत्मा अपने स्वभाव का अनुसरण न करके यदि कर्म के उदय के अनुसार परिणमन करे तो उसे विकाार होता है और यदि अपने स्वभाव का अनुसरण करके परिणमित हो तो विकार नहीं होता। अपनी अवस्था में स्वभाव को भूलकर या स्वभाव में अस्थिर होकर परसन्मुख परिणमित हो, वह

अशुद्धोपयोग है। अज्ञानी को तो स्वभाव को भूलकर अशुद्ध उपयोग होता है और ज्ञानी को स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान स्थिर रखकर अस्थिरता से अशुद्ध उपयोग होता है। जहाँ अन्तर में चैतन्य द्रव्य का अवलम्बन दूर हुआ, वहाँ परद्रव्य का अवलम्बन आये बिना नहीं रहता। पुण्य-पाप के भाव परद्रव्य के अवलम्बन से होता है और धर्म आत्मस्वभाव के आश्रय से होता है।

देव-गुरु-शास्त्रादि परद्रव्य हैं, उनके आश्रय से आत्मा में धर्म नहीं होता किन्तु राग की उत्पत्ति होती है और परद्रव्य के आश्रय से जो राग होता है, उस राग के अवलम्बन से भी धर्म की उत्पत्ति नहीं होती तथा आत्मा की वर्तमान अवस्था का अवलम्बन करके रुकने से भी विकार की ही उत्पत्ति होती है। यदि आत्मा के अखण्ड ज्ञानस्वभाव को पहिचानकर उसका अवलम्बन करे तो उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलदशा प्रगट होती है, वह मुक्ति का कारण है। आत्मा के अंतरस्वभाव के अवलम्बन के अतिरिक्त अन्य किसी का भी अवलंबन ले तो वह परद्रव्यानुसार परिणति है और उससे शुभ-अशुभभावों की उत्पत्ति होती है, वह बंधन का कारण है। अहो! स्वद्रव्यानुसार परिणति, वह धर्म और परद्रव्यानुसार परिणति वह विकार - ऐसा समझे तो स्व-पर का भेदज्ञान हुए बिना न रहे और वह जीव परद्रव्यानुसार परिणति को छोड़कर स्वद्रव्योन्मुख हुए बिना न रहे।

देह-मन-वाणी की क्रिया तो आत्मा व्यवहार से भी नहीं कर सकता, क्योंकि वह तो आत्मा से भिन्न पदार्थ हैं। पर के अवलम्बन से जो पुण्य-पाप होता है, उसका कर्ता आत्मा व्यवहार से है, परमार्थ स्वभाव की दृष्टि से तो आत्मा उस पुण्य-पाप का कर्ता भी नहीं है। कर्म आत्मा को विकार नहीं कराते, किन्तु आत्मा की परद्रव्यानुसार परिणति, वह एक ही अशुद्ध उपयोग का कारण है, अन्य कोई कारण नहीं है। आत्मा का स्वभाव अशुद्धोपयोग का कारण नहीं है और कर्मों का उदय आदि अन्य कारण भी अशुद्ध उपयोग का कारण नहीं है। कर्म तो आत्मा के ज्ञान का ज्ञेय है। परद्रव्य-सन्मुख परिणति, वह एक ही अशुद्धता का कारण है और स्वद्रव्य-अनुसार परिणति, वह एक ही शुद्धोपयोग का कारण है; एक ही कारण है दूसरा कोई कारण नहीं है - ऐसा अस्तिनास्ति से अनेकान्त है। परद्रव्य आत्मा को विकार कराते हैं - ऐसा मानना, सो एकान्त है।

21. आत्मा का कार्य

आत्मस्वभाव को यथार्थ समझे बिना अनंतकाल में जीव ने व्रतादि किये हैं, किन्तु उससे आत्मा में

धर्म का कोई लाभ नहीं हुआ, उलटा उस व्रत के राग में धर्म मानकर जीव ने अनंत संसार में परिभ्रमण किया है। परद्रव्य को ग्रहण करने या छोड़ने का कार्य आत्मा कर ही नहीं सकता, वह तो ज्ञान का ज्ञेय है और राग-द्वेष होते हैं, उनका कर्ता तथा उन्हें छोड़नेवाला भी आत्मा व्यवहार से है, वास्तव में धर्मी उसके ज्ञाता ही हैं। राग को छोडूं - ऐसी दृष्टि से राग नहीं छूटता, किन्तु स्वभाव के आश्रय में रहने से राग-द्वेष होते ही नहीं, इसलिए राग-द्वेष छोड़ दिये - ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

22. सच्ची मध्यस्थता

राग-द्वेषरूपी अशुद्ध उपयोग परद्रव्य के आश्रय से ही होता है। मेरे स्वद्रव्य के आश्रय से अशुद्धता नहीं हो सकती, इसलिए अशुद्ध उपयोग के नाश के लिए मैं सर्व परद्रव्यों में मध्यस्थ होता हूँ, अर्थात् सर्व परद्रव्यों का लक्ष छोड़कर आत्म स्वभाव का आश्रय करता हूँ। सर्व परद्रव्य मुझसे भिन्न हैं, इसलिए उनके प्रति में अत्यन्त मध्यस्थ होता हूँ। वास्तव में परद्रव्य सन्मुख देखते रहने से उसके प्रति मध्यस्थ नहीं हुआ जाता, किन्तु स्वद्रव्य में लीन रहने से समस्त परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थता हो जाती है। स्वद्रव्य में लीन रहना, वह अस्ति है और परद्रव्यों के प्रति मध्यस्थता होना, सो नास्ति है।

23. निश्चय रत्नत्रय का सच्चा कारण

मैं समस्त परद्रव्यों के प्रति अत्यंत मध्यस्थ होता हूँ - ऐसा कहा, वहाँ समस्त परद्रव्य में क्या शेष रह गया ? अहो ! देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नवतत्त्व का ज्ञान और पंच महाव्रतरूप व्यवहाररत्नत्रय का आश्रय भी यहाँ निकाल दिया। व्यवहाररत्नत्रय भी परद्रव्य के अवलम्बन से है, इसलिए उसके प्रति भी मैं मध्यस्थ हूँ, इससे इस व्यवहार रत्नत्रय का अवलम्बन छोड़कर अभेद आत्मा का ही आश्रय करता हूँ। शास्त्र में व्यवहारत्नत्रय को निश्चय रत्नत्रय का कारण कहा हो, यह बात उपचार से की है, यहाँ व्यवहार रत्नत्रय को हेय कहकर उसका आश्रय छुड़ाया है, क्योंकि वास्तव में व्यवहार रत्नत्रय, निश्चय रत्नत्रय का कारण नहीं है, किन्तु स्वद्रव्यानुसार परिणति ही निश्चयरत्नत्रय का (शुद्धोपयोग का) कारण है। व्यवहाररत्नत्रय शुभोपयोगरूप है और निश्चयरत्नत्रय शुद्धोपयोगरूप है।

24. ज्ञानी कैसा अभ्यास करता है ?

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि शुद्धोपयोग को सिद्ध करने के लिए मैं सर्व परद्रव्यों में मध्यस्थ होकर ज्ञानस्वरूप अपने आत्मा को ही ध्याता हूँ। देखो, यही ज्ञानी का कार्य है और यही ज्ञानी का

अभ्यास है। ज्ञानी पंचमहाव्रतादि शुभराग में रहने का अभ्यास नहीं करते किन्तु शुद्धोपयोग में रहने का अभ्यास करते हैं। अज्ञानी जीव परद्रव्य में रागद्वेष करके अशुद्धतारूप ही होता है, इसके अतिरिक्त परद्रव्य का तो वह कुछ भी नहीं कर सकता। अज्ञानी को स्व-पर के भिन्नत्व का भान भी नहीं है, इसलिए उसे तो सदैव परद्रव्यानुसार परिणति से अशुद्धोपयोग ही होता है। ज्ञानी स्व-पर के भिन्नत्व का भान करके, स्वद्रव्यानुसार परिणति से शुद्धोपयोग में ही रहने की भावना करते हैं।

25. चारित्र दशा प्रगट होने से पूर्व का कर्त्तव्य

हे भाई ! चारित्र दशा के पूर्व वस्तु की सच्ची श्रद्धा और सच्चा ज्ञान तो करो। सच्चे श्रद्धा-ज्ञान से रहित व्रत-तप और चारित्र - सब अरण्यरोदन समान हैं, उनसे आत्मा का भवभ्रमण दूर नहीं हो सकता। अपने द्रव्यस्वभाव से मैं शांति का सागर हूँ, मेरी सिद्धदशा मुझमें विद्यमान है - ऐसे अपने द्रव्य को मैं ध्याता हूँ - ऐसी दशा मोक्ष का कारण है, ऐसी दशा प्रगट होने से पूर्व यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान प्रगट करना भी सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप धर्म है। परद्रव्यानुसार जो पुण्य-पाप के भाव हों, उसमें आत्मा का धर्म नहीं है। स्वद्रव्य के अनुसार ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है, वही धर्म है। आत्मा का धर्म आत्मा की सन्मुखता से अपनी निर्मल अवस्था में ही होता है, इसके अतिरिक्त किसी पर की सन्मुखता से या कहीं पर्वत पर, गुफा में, मूर्ति में या देहादि की क्रिया में आत्मा का धर्म नहीं है। ऐसा जाननेवाला धर्मात्मा स्वसन्मुख शुद्धोपयोग की ही भावना करता है कि मैं आत्मा, अपने अतिरिक्त सर्व परद्रव्यों में राग-द्वेष रहित मध्यस्थ होकर-अशुद्धोपयोग रहित होकर, अपने शुद्धात्मस्वरूप को ही निश्चलरूप से ध्याता हूँ - ऐसी दशा प्रगट हो, वह साक्षात् धर्म है और वही मुक्ति का कारण है। अभी इस दशा का भान भी नहीं है और पुण्य से-राग से और जड़ की क्रिया से धर्म मानता है तो धर्म से कोसों दूर मिथ्यादृष्टि है।

26. भयंकर भावरोग और उससे बचने का उपाय

अपने आत्मस्वरूप की भ्रान्ति ही सबसे महान पाप है और यही जन्म-मरण का भयंकर भावरोग है। उस मिथ्या भ्रान्ति का नाश कैसे हो ? उसकी बात चलती है। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं -

आत्मभ्रान्ति सम रोग नाहि, सद्गुरु वैद्य सुजाण।
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहि, औषध विचार, ध्यान।।

- शेष अगले अंक में

भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी प्रकाशन

परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये जिज्ञासु निम्नलिखित पुस्तकों की स्वाध्याय अवश्य करें!

समयसार -प्रवचन (भाग-1)	6-0-0
समयसार -प्रवचन (भाग-2)	5-0-0
मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें	1-6-0
दशलक्षण-धर्म	0-12-0
सम्यग्दर्शन	2-8-0
भेदविज्ञानसार	2-0-0
मूल में भूल	0-12-0
मुक्ति का मार्ग	0-10-0
आत्मधर्म की फाइलें	3-12-0

उपरोक्त पुस्तकों में 'सम्यग्दर्शन' नाम की पुस्तक अभी प्रगट हुई है, जो प्रत्येक जिज्ञासु को अवश्य पढ़ने योग्य है।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

प्राप्तिस्थान —

श्री जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)